

○.....  
यह लेख राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा विकसित हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों पर उठे विवाद को केन्द्र में रखकर सवाल उठाता है कि क्या यह विवाद शिक्षणशास्त्र की विशिष्ट प्रकृति और पाठ्यपुस्तकों से जुड़ी प्रक्रियाओं के प्रति संवेदनशील हुए बिना तथा अभिभावकों एवं शिक्षकों की शिरकत के बिना सार्थक होगा ?

पाठ्यपुस्तकों में रचना चयन के आधार प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि लोकतंत्र में व्यवस्थाओं पर सवाल उठाने का अधिकार सभी को है। साहित्यकार भी अपने इस दायित्व का निर्वाह करते हैं। भाषायी पाठ्यपुस्तकें साहित्य में यथार्थवादी चित्रण के माध्यम से सामाजिक यथार्थ एवं निम्नवर्गीय बदहाली के कारणों से अवगत करा सकती हैं।

## पाठ्यपुस्तकों की राजनीति और बच्चों का भविष्य

□ राजाराम भादू

इस आलेख का संदर्भ राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) की विभिन्न स्तरों के लिए तैयार की गई भाषा-साहित्य की नई पाठ्यपुस्तकें और उन पर उठा ताजा विवाद है। ये पाठ्यपुस्तकें राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा निर्मित और चर्चित 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा: 2005 के अनुरूप बनी हैं और अभी भी कई कक्षाओं के लिए पुस्तकें बनना बाकी है।

पाठ्यपुस्तकों पर विवाद अब हमें बहुत चकित नहीं करता बल्कि यह अधिकांश लोगों के सामान्य बोध का हिस्सा बन गया है कि यदि राज्य सत्ता में दलीय परिवर्तन होगा तो पाठ्यपुस्तकें भी परिवर्तित की जाएंगी। इस बोध में दो चीजें अन्तर्निहित हैं; एक, राज्य सत्ता को पाठ्यक्रम निर्धारित करने के अधिकार को एक तरह की स्वीकृति और दूसरी, इस प्रसंग में अपनी निर्लिप्तता। कहा जा सकता है कि अब से पहले राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा: 2000 का व्यापक विरोध हुआ था। यह 'व्यापक' शब्द की अर्थ व्यापकता को कम आंकना होगा। क्या उस विरोध में शिक्षकों और अभिभावकों की कोई आवाज अथवा कोई भागीदारी थी ? भले ही प्रतीकात्मक ही सही, इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर उक्त व्यापकता को प्रश्नित करता है। यह सही है कि उस विरोध ने एक राजनीतिक दबाव और किस हद तक कारगर हस्तक्षेप किया था। लेकिन इस बार भी राजनीतिक दबाव कम नहीं है और हस्तक्षेप ज्यादा कारगर है क्योंकि तब सत्ता संचालित प्रक्रिया रुकी नहीं थी जबकि अब सत्ता की ओर से पुनर्विचार प्रक्रिया<sup>1</sup> आरंभ हो चुकी है।

लेकिन इस बार के विवाद को राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा: 2000 के विवाद की पुनरावृत्ति नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय

पाठ्यचर्या की रूपरेखा: 2000 से जुड़ी शैक्षिक कार्यवाहियों को मतारोपण अथवा बच्चों पर एक खास मताग्रह थोपने (जिसे 'भगवाकरण' कहा गया) के रूप में देखा गया था। इस बार बनी पाठ्यपुस्तकों का वह तबका तो विरोध कर ही रहा है जिनके मतारोपण को पाठ्यपुस्तकों के जरिए थोपने के प्रयास बीच में सत्ता से चले जाने के कारण सिर नहीं चढ़ पाए। लेकिन कुछ दूसरे विचारों से जुड़े लोगों द्वारा भी इन पाठ्यपुस्तकों का विरोध किया जाना विचारणीय है। बहरहाल, इस विरोध के पीछे जो भी लोग रहे हों, यह मुख्य रूप में राजनेताओं (विशेषकर देश की सर्वोच्च मानी जाने वाली संस्था संसद के दोनों सदनों में) ने ही किया है।

कथित भगवाकरण के पक्ष-विपक्ष के तर्क-वितर्कों से हम अनजान नहीं हैं। लेकिन इनसे इतर, यानी दूसरे राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों द्वारा इन पुस्तकों पर सवाल उठाने के निहित उद्देश्य अजाने हैं। इससे जुड़े दो और सवाल हैं। पहला, क्या इन राजनेताओं ने महज लोकप्रियता के लिए ये प्रतिवाद किया है ? दूसरा सवाल राजनेताओं के जनप्रतिनिधित्व के प्रति सम्मान भाव के बावजूद है कि क्या पाठ्यपुस्तकों पर इस सतही तरीके से सवाल उठाए जा सकते हैं ?

ये सवाल हमें इस संदर्भ में कुछ पीछे जाने के लिए बाध्य करते हैं। देश के शिक्षा परिदृश्य<sup>2</sup> में आए बदलावों को मोटे तौर पर हम तीन चरणों में देख सकते हैं।

पहला चरण स्वतंत्रता के बाद शिक्षा के आधुनिकीकरण का है। इसके अन्तर्गत शिक्षा को अधुनातन करने के प्रयास किए गए। अर्थात् इतिहास की पाठ्यपुस्तकों को आधुनिक तरह से लिखा गया जिसमें निरपेक्षता और वस्तुपरकता अपनाने का दावा किया गया।

भाषा के अन्तर्गत आधुनिक साहित्य को शामिल किया गया। इतर विषयों में वैश्विक स्तर के ज्ञान-विज्ञान को समाहित करने की कोशिश की गई। हालांकि यह प्रक्रिया ब्रिटिश काल में आरंभ हो गई थी लेकिन यह आधी-अधूरी थी। देश की आजादी के बाद इसे जोश-खरोश के साथ मुकम्मिल रूप दिया गया। राष्ट्रवादी उद्भावनाएं इस दौर की पाठ्यपुस्तकों में प्रायः प्रकट और अन्यथा अन्तर्धारा के रूप में सर्वत्र विद्यमान रहती थीं। यह चरण लम्बा चला जो नेहरू युग से उत्तर इन्दिरा काल तक बरकरार रहा। इस दौर में भी यदाकदा पाठ्यपुस्तकों को लेकर सवाल उठते रहते थे और यह आरोप लगाया जाता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन और कांग्रेस को पर्याय की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है। यह भी कि राष्ट्रवाद को नेहरू-गांधी परिवार की सापेक्षता में रखा जा रहा है। बीच के जनता राज में प्रचलित पाठ्यपुस्तकों में परिवर्तन की बात उठी थी लेकिन इस सत्ता के अल्पकाल के कारण यह संभव नहीं हुआ।

उस समय परिवर्तन की बात करने वालों में जो लोग शामिल और सक्रिय<sup>3</sup> थे, वे ही दूसरे चरण में भाजपा नीत राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार के समय हस्तक्षेप के सूत्रधार बने। यह हस्तक्षेप एक खास नजरिए से प्रेरित था जो लगभग सर्वविदित है। इस नजरिए की पहली टकराहट आधुनिकता से है। आधुनिकता में जहां अतीत के प्रति वैज्ञानिक और आलोचनात्मक रवैया अपनाया जाता है, वहीं ये नजरिया अतीत के प्रति खास आग्रह के चलते उसे गौरव मण्डित रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। इसकी दूसरी टकराहट राष्ट्रवाद की शिक्षा में प्रयुक्त मान्यता से रही है। शिक्षा में अभी तक प्रचलित राष्ट्रवादी मान्यता लोकतांत्रिक प्रणाली के सापेक्ष है। इसके मायने हैं, राष्ट्र के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को मान्यता और इसकी संवैधानिक प्रतिस्थिति (status)

की स्वीकार्यता। जबकि उक्त नजरिया घोषित रूप से इसका खण्डन भले ही नहीं करता हो लेकिन सच्चाई यह है कि राष्ट्रवाद की इसकी अपनी परिभाषा है जिसमें राष्ट्रवाद को 'हिन्दुत्व' के पर्याय के तौर पर माना गया है। इस नजरिए से किए हस्तक्षेपों को प्रतिवाद करने वालों ने 'भगवाकरण' की संज्ञा दी और इन्हें लोकतंत्र के विरुद्ध पाया।

यहां सवाल उठता है कि क्या पाठ्यपुस्तकों पर सवाल उठाने वाले हमारे राजनेता शिक्षाशास्त्र की विशिष्ट प्रकृति और पाठ्यपुस्तकों के पीछे और आगे की शैक्षणिक प्रक्रियाओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हैं। हम सभी जानते हैं कि पाठ्यपुस्तकें एक लम्बी शैक्षणिक प्रक्रिया की सर्जनात्मक परिणतियां होती हैं। इस प्रक्रिया में शिक्षा के उद्देश्य निर्धारण, शिक्षाक्रम और पाठ्यचर्या के निर्माण हो चुकने के बाद पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने का काम शुरू होता है। यह भी तथ्य है कि यह समूची प्रक्रिया अन्ततः इस बात से परिचालित होती है कि शिक्षा के बारे में हमारा सोच क्या है, या कहें कि हम अपने बच्चों के लिए कैसी शिक्षा चाहते हैं? शिक्षा की प्रकृति की यही विशिष्टता इसमें मतारोपण अथवा प्रश्नाकुलता की गुंजाइश तय करती है। यदि पाठ्यचर्या 2000 शिक्षा में एक खास मताग्रह पर जोर देती थी और पाठ्यचर्या 2005 बच्चों में प्रश्नाकुलता को प्रोत्साहित करती है तो इसके पीछे एक दृष्टि और उत्प्रेरणएं हैं। पहली पाठ्यचर्या (2000) किन्हीं खास मान्यताओं और विश्वासों से परिचालित है जबकि दूसरी (2005) संवैधानिक मूल्य मान्यताओं से निर्देशित है।

देश के शैक्षिक परिदृश्य में बदलाव का तीसरा चरण राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा: 2005 तैयार करने की प्रक्रिया से होता है। इस प्रक्रिया का अभिप्रेत 2000 से पूर्व की स्थिति की पुनर्स्थापना नहीं था। यही विशेषता इस प्रक्रिया को भिन्न और विशिष्ट बनाती है।

भारत में स्वातंत्र्य से 2000 तक, अर्ध शती के पहले चरण में पाठ्यपुस्तकों की एक खास संरचना ही विद्यमान रही। बेशक, इसमें किंचित परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहा। इस बीच कोठारी कमीशन (1966) से लेकर नई शिक्षा नीति (1984) और इसकी कार्य योजना (1986) बनी। इस आयोगों और समितियों ने शिक्षा में वृहद बदलावों की अनुशंसा की। नई शिक्षा नीति भी काफी प्रचारित रही। किन्तु इनका असर पाठ्यपुस्तकों से इतर शायद ही कहीं विशेष रूप से परिलक्षित हुआ हो। शिक्षा की आन्तरिक और बाह्य संरचना में कोई बदलाव नहीं आया। शैक्षिक तंत्र का औपनिवेशिक ढांचा बरकरार रहा और इसके तहत संचालित प्रक्रियाएं अपनी प्रकृति में यांत्रिक ही बनी रहीं। उदाहरण के लिए परीक्षा पद्धति के यथावत बने होने से पाठ्यपुस्तकों के तथ्य व सूचनाएं शैक्षणिक उपलब्धि का आधार बने रहे। जबक बाह्य जगत और पाठ्य-वस्तु के बीच द्वैत निरंतर बढ़ता गया। फलतः स्कूल की कार्य-संस्कृति नीरस और अबौद्धिक रही।

ऐसा नहीं कि देश में इन दशकों में शिक्षा को लेकर कोई

चिन्तन और नवाचार नहीं हुए हों। बल्कि यह सुखद स्थिति है कि आजादी से पूर्व शिक्षा क्षेत्र में जो उद्वेलनकारी चिंतन और जमीनी प्रयास (शांति निकेतन, महर्षि अरविन्द का आश्रम और गिजू भाई की बाल-शालाएं) आरंभ हुए थे, वे उत्तरोत्तर विकसित होते गए। विडम्बना यह है कि सरकारी शिक्षा प्रणाली ने इनके प्रति प्रायः उपेक्षा भाव ही रखा और यदि कभी ऐसी किसी प्रवृत्ति को अपनाया भी तो उसे उसकी मूल भावना से विलग कर दिया। नतीजन यह निष्प्राण हो कर यांत्रिक शिक्षातंत्र में विलीन हो गई। यहां तक कि गांधी जी और डॉ. जाकिर हुसैन द्वारा प्रणीत बुनियादी शिक्षा को भी इस तंत्र ने क्रमशः निरर्थक और अप्रासंगिक बना दिया। विभिन्न आयोगों और समितियों की अनुशंसाओं के बावजूद सरकारी तंत्र की ओर से अन्यत्र किए गए उत्कृष्ट शैक्षिक नवाचारों को मुख्यधारा में अपनाने के प्रति कोताही बरती गई। इसके बावजूद मुख्य शिक्षा के समानान्तर इन नवाचारी प्रयासों का उन्नयन जारी रहा। दूसरी ओर यह समान्तरता पुनरुत्थानवादियों की ओर से भी जारी और विकासमान रही जो अन्ततः राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षातंत्र को प्रभावित करने वाले 2000 और उसके बाद के हस्तक्षेप के तौर पर उभरी।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा: 2005 के अनुरूप बनी पाठ्यपुस्तकों पर विचार करने से पहले हमें इनके परिप्रेक्ष्य को समझना चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य का एक आयाम तो ऐतिहासिक है जिसकी पूर्व में चर्चा की जा चुकी है। परिप्रेक्ष्य का दूसरा आयाम वह प्रक्रिया है जो पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के पीछे रही है। इस प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य शिक्षा की नीति निर्धारण तंत्र का जनतांत्रिकरण है। उल्लेखनीय है कि शिक्षा मंत्रालय में नीति निर्धारण करने वाली सर्वोच्च संस्था केन्द्रीय सलाहकार परिषद् दशकों से निष्क्रिय थी। यहां तक कि 2000 में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा बनाते वक्त भी इसे सक्रिय नहीं किया गया। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन के सत्ता में आने के बाद सबसे पहले केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की बैठकें आरंभ हुईं। इसी के समान्तर राष्ट्रीय शैक्षणिक प्रशिक्षण और अनुसंधान परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) और राष्ट्रीय शैक्षिक प्रशासन एवं आयोजन संस्थान (नीपा) तथा केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सी.बी.एस.ई.) के स्तर पर शिक्षा क्षेत्र के ज्वलंत और प्रासंगिक मुद्दों की पहचान की गई। इन करीब दर्जन भर मुद्दों पर केन्द्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा गंभीर विचार-विनिमय कर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए फोकस ग्रुप बनाए गए। इन समूहों में शिक्षा के क्षेत्र के आधिकारिक विद्वान और विशेषज्ञों को प्रतिनिधित्व दिया गया था। इन्होंने संदर्भित फोकस समूहों के प्रतिवेदनों के सार को समाहित करते हुए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा: 2005 निर्मित की जिसे देश भर में खुली बहस के बाद

केन्द्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा अंतिम रूप दिया गया। तत्पश्चात् इसके अनुरूप पाठ्यपुस्तकों के निर्माण, शिक्षक प्रशिक्षण की पाठ्यचर्या में तदनु रूप परिवर्तन<sup>4</sup> और परीक्षा प्रणाली में सुधार की कार्यवाही शुरू हुई। अभी यह कार्यवाही शुरू ही हुई थी, पाठ्यपुस्तक-निर्माण का एक चरण पूरा हुआ था जिसमें बमुश्किल आधी कक्षाओं के लिए किताबें बनी थीं कि इनका विरोध शुरू हो गया। संसद में विरोध करने वालों में सत्ताधारी पार्टियों और सरकार को बाहर से समर्थन देने वाले दलों के नुमाइंदे भी शामिल थे।

यहां सवाल उठता है कि क्या पाठ्यपुस्तकों पर सवाल उठाने वाले हमारे राजनेता शिक्षाशास्त्र की विशिष्ट प्रकृति और पाठ्यपुस्तकों के पीछे और आगे की शैक्षणिक प्रक्रियाओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हैं। हम सभी जानते हैं कि पाठ्यपुस्तकें एक लम्बी शैक्षणिक प्रक्रिया की सर्जनात्मक परिणतियां होती हैं। इस प्रक्रिया में शिक्षा के उद्देश्य निर्धारण, शिक्षाक्रम और पाठ्यचर्या के निर्माण हो चुकने के बाद पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने का काम शुरू होता है। यह भी तथ्य है कि यह समूची प्रक्रिया अन्ततः इस बात से परिचालित होती है कि शिक्षा के बारे में हमारा सोच क्या है, या कहें कि हम अपने बच्चों के लिए कैसी शिक्षा चाहते हैं? शिक्षा की प्रकृति की यही विशिष्टता इसमें मतारोपण अथवा प्रश्नाकुलता की गुंजाइश तय करती है। यदि पाठ्यचर्या 2000 शिक्षा में एक खास मताग्रह पर जोर देती थी और पाठ्यचर्या 2005 बच्चों में प्रश्नाकुलता को प्रोत्साहित करती है तो इसके पीछे एक दृष्टि और उत्प्रेरणाएं हैं। पहली पाठ्यचर्या (2000) किन्हीं खास मान्यताओं और विश्वासों से परिचालित है जबकि दूसरी (2005) संवैधानिक मूल्य मान्यताओं से निर्देशित है। उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा बनाए फोकस समूहों में एक शिक्षा दर्शन और इसके उद्देश्यों पर केन्द्रित था।

इस संदर्भ में एक प्रतिप्रश्न भी उठता है, कि क्या शिक्षा को केवल शिक्षा शास्त्रियों के भरोसे छोड़ देना चाहिए? क्या शिक्षा के क्षेत्र में भी अन्य ज्ञान अनुशासनों की तरह विशेषज्ञता को सापेक्ष स्वायत्तता की नीति काम नहीं कर सकती? बेशक, लोकतांत्रिक प्रणाली में यही नीति सबसे कारगर कही जाएगी। किंतु तब यह सवाल उठेगा कि केवल शिक्षाविदों और राजनेताओं के भरोसे शिक्षा जैसे अहम और संवेदनशील क्षेत्र को छोड़कर यह नीति कितनी कारगर हो सकती है? इन और ऐसे सवालों पर शैक्षिक संवाद की जरूरत लगती है। इस संवाद को संदर्भित सवालों के साथ एक मूलभूत चिंता पर केन्द्रित किया जा सकता है - क्या पाठ्यपुस्तकों को समझने आंकने के कोई सामान्य सिद्धांत हो सकते हैं? ऐसे सिद्धांत जो आधुनिक शिक्षणशास्त्रीय मान्यताओं के

अनुरूप हों ? जो लोकतांत्रिक प्रणाली की संगति में हों ? जो बच्चे के व्यक्तित्व की समस्त क्षमताओं और संभावनाओं को उभारने वाली शिक्षा को सुनिश्चित कर सकते हों ? सिद्धांत, जिन्हें जानने-समझने और बरतने के लिए किसी विशेषता पर निर्भर रहने की बहुत ज्यादा जरूरत नहीं हो। ऐसे सिद्धांत, जिन पर अधिकतर लोगों की तर्कधारित सहमति हो सकती हो ?

इन सवालों का निहितार्थ यह है कि शिक्षा से संदर्भित कोई सवाल इकहरा और लोगों के किसी खास दायरे तक सीमित न होकर बहुआयामी और साझा सामाजिक सरोकार है। शैक्षिक मुद्दों पर सर्वसम्मति बनाने की प्रक्रिया भी चुनौतीपूर्ण और दीर्घकालिक होगी।

पाठ्यपुस्तकों पर वाद-विवाद संवाद से कदापि इंकार नहीं किया जा सकता बल्कि शिक्षा से जुड़े प्रत्येक पहलु, यथा- शिक्षा दर्शन, उद्देश्य, शिक्षाक्रम और शाला प्रबंधन तक हर पक्ष पर गंभीर विचार-विमर्श शैक्षिक लोकतंत्र का लक्षण है। लेकिन क्या यह वाद प्रति-विवाद केवल नीति-निर्माताओं और शिक्षाविदों तक सीमित रहना चाहिए ? यह सीमित संवाद भी ज्यादा फलप्रद नहीं रहा क्योंकि नीति नियंता अपनी पसंद के शिक्षाविदों को चुनते और उन्हें जिम्मेदारी सौंपते रहे हैं। क्या यह चयन इस 'पसंद' के स्थान पर लोकतंत्र में शिक्षा की भूमिका और बच्चों के भविष्य से नहीं निर्मित होनी चाहिए ? क्या शिक्षा का लोकतांत्रिकरण शिक्षकों और अभिभावकों की सहभागिता के बिना मुकम्मिल हो सकता है ? क्या लोकतंत्र में शिक्षा के ऐसे कुछ सामान्य सिद्धांत नहीं हो सकते, जो बच्चों और समाज के भविष्य से संबद्ध हों और जिनके आधार पर शिक्षक और अभिभावक ही नहीं सामान्य जन भी शैक्षिक-विमर्श में हिस्सेदारी कर सकें ? पाठ्यपुस्तकों को समझने-परखने के सामान्य सिद्धांत भी इसी का हिस्सा हो सकते हैं। इन सिद्धांतों के लिए संवाद की आवश्यकता पहले भी थी जो अब और अधिक है।

पाठ्यपुस्तकों पर उठे कुछ सवालों को शिक्षण शास्त्रीय संदर्भों में देखने से यह परिप्रेक्ष्य और स्पष्ट हो सकता है। विवाद का एक मुद्दा एक पाठ्यपुस्तक में शामिल प्रेमचंद की कहानी<sup>5</sup> में प्रयुक्त जातिसूचक शब्दों को लेकर उठा है। इस विवाद के कई साहित्यिक और शिक्षण शास्त्रीय आयाम हैं। एक तो यह कि भाषा शिक्षण में बच्चों को साहित्यिक विधाओं से अवगत कराना बहुत महत्वपूर्ण है। साहित्यिक विधाएं भाषा के सर्जनात्मक रूप हैं। दूसरे, एक साहित्यिक कृति की अपनी स्वतंत्र इयत्ता होती है। एक ओर यह कृतिकार की सर्जनात्मक चेतना से उद्भूत होती है। तो दूसरी ओर अपने देश काल से आबद्ध होती है। सामयिक संदर्भों से आबद्धता

के बावजूद एक उत्कृष्ट कृति इनका अतिक्रमण भी करती है। यह अतिक्रमण किन्हीं शाश्वत मानव मूल्यों के कृति द्वारा प्रतिष्ठापन से निर्णीत होता है।

पाठ्यपुस्तक में किसी कृति के चयन के पीछे पहला आधार तो यही होगा कि क्या यह सर्जनात्मक भाषिक विधा रूप का एक बेहतर उदाहरण हो सकती है जो बच्चों में उस विधा विशेष के आस्वादन की क्षमता पैदा करने के साथ भाषा अभिव्यक्ति क्षमता के नये क्षितिज का भी परिचय कराए। दूसरा आधार इस कृति विशेष के मूल्यबोध/ सौंदर्यबोध की प्रासंगिकता/महत्ता होगी। उल्लेखनीय है कि यहां कृतिकार महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसलिए कि एक कृतिकार की आवश्यक रूप से हर कृति सर्जनात्मक रूप से उत्कृष्ट नहीं होती। दूसरे यह जरूरी नहीं कि कोई उत्कृष्ट कृति पाठ्यपुस्तक में प्रासंगिक भी ठहरे। चयन में तीसरा कारक प्रतिनिधित्व है अर्थात् इस कृति को साभिप्राय पाठ्यपुस्तक में सम्मिलित किया गया है। यह साभिप्राय महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचंद की इस कहानी को पाठ्यपुस्तक निर्माताओं ने जिस अभिप्राय से चयनित किया है, उसे न समझकर। कहानी जाति-भेद की समस्या को इसकी अमानवीयता के साथ उठाती है और साथ ही इसे व्यर्थ ठहराती है। कहानी यथार्थवादी शैली में लिखी गई है इसलिए वास्तविकता को उद्घाटित करने के क्रम में जाति सूचक शब्द आए हैं। चूंकि कृतिकार (प्रेमचंद) के देशकाल में ये शब्द असंवैधानिक घोषित नहीं किए गए थे, इसकी सूचना टिप्पणी देकर दी गई है कि वर्तमान में ये असंवैधानिक हैं। इस या ऐसी कहानी से पाठ्यपुस्तकों को बचाकर रखने का यह निहितार्थ होगा कि बच्चे अपने समाज की अमानवीय बुराइयों से अवगत नहीं होंगे। साथ ही वे भाषा सर्जना की यथार्थवादी शैली की क्षमता व संभावनाओं से भी अज्ञान रहेंगे। जहां तक ऐसे शब्दों के हटाने के सुझाव की बात है, यदि ऐसा किया जाता है तो एक कृति की स्वतंत्र इयत्ता ही खत्म हो जाएगी। इसकी तार्किक परिणति तो हर भाषा के महान क्लासिक ग्रंथों के संशोधन तक जाएगी क्योंकि उनमें भी कई ऐसी बातें हैं जो आज लोगों को आपत्तिजनक लग सकती हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्यिक कृतियां मनुष्यता का एक समानान्तर इतिहास रचती हैं जिनकी अपनी प्रामाणिकता और महत्ता है। इनसे किसी भी तरह की छेड़छाड़ इन्हें अनैतिहासिक बना देगी।

भाषा शिक्षण के लिए बली पाठ्यपुस्तकों<sup>6</sup> के आमुख में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद के निदेशक की ओर से आरंभ में ही लिखा गया है: "राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल

और घर के बीच अन्तराल बनाए हुए है। नई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मजबूत दीवार से घेर देने और जानकारी को हटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल केन्द्रित व्यवस्था की दिशा में काफी दूर तक ले जाएंगे।”

यह टिप्पणी स्कूली ज्ञान और घरेलू जीवन के बीच के द्वैत को संकेतित करती है। यहां हम एक और अन्तराल का जिक्र करना चाहेंगे। यह सर्वविदित है कि इस देश में केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सी.बी.एस.ई.) के अन्तर्गत ही ऐसे तथाकथित पब्लिक स्कूल आते हैं जिनमें धनाढ्य, उच्च और मध्यवर्ग के बच्चे पढ़ते हैं। इन स्कूलों और घरों की जो संस्कृति है वह बच्चों को निम्नवर्गीय दुनिया से अलगाने वाली है। इस निरन्तर विच्छिन्नता के चलते ये बच्चे सामाजिक यथार्थ से न केवल अभिन्न रहते हैं बल्कि विपन्न/ वंचितों के प्रति संवेदनहीन भी हो जाते हैं। एक लोकतांत्रिक समाज के लिए ऐसा सामाजिक अन्तराल कोई शुभ लक्षण नहीं है। ऐसी स्थिति में भाषायी पाठ्यपुस्तकें बच्चों को इस सामाजिक यथार्थ और निम्नवर्गीय जीवन की बदहाली के कारणों से अवगत कराने में मददगार हो सकती हैं। साहित्यिक विधाओं में ही व्यक्ति को अधिक संवेदनशील बनाने और उसके सरोकार विकसित करने सामर्थ्य होती है।

हालांकि यह सिर्फ किसी 'पाठ' से ही नहीं हो जाता बल्कि इसमें शिक्षकों के उपक्रमों की भी निर्णायक भूमिका होती है जिस पर पूर्व उल्लिखित आमुख में बहुत जोर दिया गया है।

भाषा की एक पूरक पाठ्यपुस्तक<sup>7</sup> में बेवी हालदार की आत्मकथा 'आलो आंधारि' हाशिये पर जीती एक स्त्री के जीवन संघर्ष का मार्मिक वृत्तान्त है। यह प्रसंग पाठ्यपुस्तकों में सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधित्व और प्रतिबिम्बन से भी जुड़ा है। पूर्व में पाठ्यपुस्तकों को लेकर हुए कतिपय अध्ययनों<sup>8</sup> में यह पाया गया है कि पाठ्यपुस्तकों में दलित-आदिवासी और स्त्रियों के चित्रण

पूर्वग्रह ग्रस्त रहे हैं।

इस संदर्भ में मौजूदा अस्मितावादी राजनीति ने भी कुछ समस्याएं खड़ी की हैं। यह एक सच्चाई है कि भारत में वर्ण व्यवस्था आधारित सामाजिक-विभेद के चलते ब्राह्मणवादी वर्चस्व कायम रहा है। इस वास्तविकता का प्रतिफलन मौखिक परम्पराओं व लिखित साहित्य में सवर्णों के अक्सर अतिरंजित चित्रण में हुआ है जिसमें वे नायकीय गुणों, यथा-शौर्य, दया, करुणा की प्रतिमूर्तियां हैं। गैर-सवर्ण उत्पीड़ित समुदायों की कथा प्रायः अनकही रही है।

**पाठ्यपुस्तक में किसी कृति के चयन के पीछे पहला आधार तो यही होगा कि क्या यह सर्जनात्मक भाषिक विधा रूप का एक बेहतर उदाहरण हो सकती है जो बच्चों में उस विधा विशेष के आस्वादन की क्षमता पैदा करने के साथ भाषा अभिव्यक्ति क्षमता के नये क्षितिज का भी परिचय कराए। दूसरा आधार इस कृति विशेष के मूल्यबोध/सौंदर्यबोध की प्रासंगिकता/महत्ता होगी। उल्लेखनीय है कि यहां कृतिकार महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसलिए कि एक कृतिकार की आवश्यक रूप से हर कृति सर्जनात्मक रूप से उत्कृष्ट नहीं होती। दूसरे यह जरूरी नहीं कि कोई उत्कृष्ट कृति पाठ्यपुस्तक में प्रासंगिक भी ठहरे। चयन में तीसरा कारक प्रतिनिधित्व है अर्थात् इस कृति को साभिप्राय पाठ्यपुस्तक में सम्मिलित किया गया है। यह साभिप्राय महत्त्वपूर्ण है।**

भारतीय भाषाओं में आधुनिक अभिव्यक्ति धाराओं के विकास के साथ दलित उत्पीड़ित समुदायों की कथा प्रायः अनकही रही है। भारतीय भाषाओं में आधुनिक अभिव्यक्ति धाराओं के विकास के साथ दलित उत्पीड़ित समुदायों की वंचना और आक्रोश को वाणी मिली है। इधर के दशकों में इन समुदायों में सशक्तिकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई है और इन्होंने किसी हद तक लोकतांत्रिक सहभागिता हासिल की है। लेकिन इसी के साथ इनमें संस्कृतिकरण<sup>9</sup> के चलते सवर्णों की तरह एक किस्म के जातीय अभिमान की प्रवृत्ति भी विकसित हुई है। यह प्रवृत्ति पूर्व में इन की निम्न और उत्पीड़ित स्थितियों के चित्रण को लेकर उग्र प्रतिक्रिया करती है। यह प्रसंग वस्तुतः वस्तुपरक इतिहास दृष्टि के निषेध से जुड़ा है जो कि अपनी प्रकृति में लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता। हम अपने अतीत को कैसे देखें यह सवाल भारतीय संदर्भों में अहम और मौजू है।

यही प्रवृत्ति कुछ भिन्न रूप में बच्चों के सच के विकल्पों और कुत्साओं से बचाकर रखने की स्वेच्छाओं में व्यक्त होती है। यह प्रवृत्ति असल में 'बचपन' को लेकर हमारी अवधारणा और मान्यताओं से जुड़ी है। इस अवधारणा में 'बचपन' मासूम और निश्छल है और इस मान्यता के अनुसार यदि हम गौतम बुद्ध के पिता की तरह असफल न हों तो बच्चे भविष्य में भी वैसे ही मासूम और निश्छल बने रह सकते हैं। अर्थात् बच्चों को रोग, भूख और मृत्यु जैसी भयावह चीजों से ग्रस्त समाज से दूर रखें। यह दृष्टि बच्चों

को गुड्डे-गुड्डियों तो मानकर चलती है बल्कि परिवेश की ताकत और सामाजिक व्यवहार के प्रभावों को भी नकार कर चलती है। तथाकथित नैतिक शिक्षा के पीछे भी सामान्यतः ऐसी संकल्पनाएं काम करती हैं। ऐसा सोच और दृष्टि रखने वाले लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि बच्चे सोचते-विचारते भी हैं, वे सवाल कर सकते हैं और चीजों पर उनकी अपनी राय हो सकती है। वे घर में आपका व्यवहार देखते हैं, स्कूल में शिक्षक का व्यवहार और समुदाय के कार्य-व्यापार समझते हैं। किसी एक शब्द या वाक्य से उनकी मासूमियत नष्ट हो जाएगी, ये धारणा कतई बेमानी है।

इन पाठ्यपुस्तकों में आई दो कवियों की कविताओं<sup>10</sup> को शामिल करने पर भी आरोप लगे हैं। इनमें से धूमिल की कविता 'मोचीराम' को तीखी राजनीतिक आलोचना के कारण हटाने की मांग की गई है। जबकि अवतार सिंह पाश को विचारधारा के कारण पाठ्यपुस्तकों से दूर रखने की बात कही गई है। ये प्रसंग एक उदाहरण हो सकता है क्योंकि ऐसा अन्य कृतिकारों के बारे में भी कहा जा सकता है। पाश के निश्चित रूप से अपने राजनीतिक विचार थे। लेकिन पाश आतंकवादी नहीं थे। जैसा कि कुछ लोग मानते हैं बल्कि अपने विचारों के कारण वे आतंकवादियों की हिंसा का शिकार हुए थे। उनकी जो कविता पाठ्यपुस्तकों में शामिल की गई है, वह उनके राजनीतिक विचारों का प्रचार नहीं करती। यह भविष्य के सपनों के बारे में है जो नई पीढ़ी को देखने ही चाहिए। पाश और उनके राजनीतिक विचारों को लेकर मतभेद हो सकते हैं, इस पर बहस की जा सकती है। लेकिन जब तक उन्हें गलत साबित नहीं किया जाता तब तक उनकी कविता को पाठ्यपुस्तक से कैसे हटाया जा सकता है ?

जहां तक धूमिल की कविता में व्यक्त राजनीतिक आलोचना की बात है, लोकतंत्र में राजनीतिक आलोचना की अनिवार्य भूमिका है जो विभिन्न व्यावहारिक स्तरों पर प्रतिपक्ष द्वारा निभाई जाती है किन्तु यह आलोचना का सिर्फ एक पक्ष है, और गहरे अर्थों में यह भूमिका मीडिया और बौद्धिक समुदाय द्वारा निभाई जाती है इसमें सर्जकों की सभी कतारें शामिल हैं। असल में, सर्जक, बल्कि सभी बुद्धिजीवी यह भूमिका लोकतंत्र से पहले की राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी निभाते रहे हैं और इसके लिए उन्होंने बड़ी कीमतें चुकायी हैं। लोकतंत्र ने उनकी इस भूमिका को सम्मानजनक वैधानिकता प्रदान की है। यदि हमारा लोकतंत्र इसका सम्मान नहीं करता तो यह किधर जा रहा है ? अपने बच्चों को हम आलोचनात्मक चिंतन से काटकर लोकतंत्र का कैसा भविष्य रच रहे हैं ? इन सवालों पर हमें सोचना चाहिए।

पाठ्यपुस्तकों में किसी 'कृति' को शामिल करने मात्र से यह 'पाठ' नहीं बन जाता, बल्कि इसे 'पाठ' बनाने के लिए बहुत सारे सवाल, अभ्यास और गतिविधियां इसके इर्द-गिर्द गूंथनी पड़ती हैं। यह वह आयाम है जिसमें हमारा शिक्षा दर्शन और शैक्षणिक व्यवहार प्रकट होता है। अर्थहीन सवाल निरर्थक उत्तरों को जन्म देते हैं। दूसरी ओर इन्हीं में हमारे शैक्षणिक सिद्धांतों की रूपरेखा परीक्षित होती है। इन पाठ्यपुस्तकों के इस आयाम को इस दृष्टि से भी देखने की जरूरत है। शिक्षा का लोकतांत्रिकरण तभी निष्फल होगा जब हमारे शिक्षक और अभिभावक ही नहीं, बच्चे भी किसी हद तक इस संवाद प्रक्रिया में भागीदार बनें। ♦

### संदर्भ

1. केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा इन पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के लिए प्रो. यशपाल की अध्यक्षता में एक समीक्षा-समिति बनाई गई है जिसके अन्य सदस्य हैं - यू. आर. अनन्तमूर्ति और अशोक वाजपेयी।
2. यहां हमारा संदर्भ प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा है। उच्च शिक्षा इस चर्चा के दायरे में नहीं है। यह सही है कि आधारभूत शिक्षा की मूल विशेषताएं उच्च शिक्षा पर निर्णायक प्रभाव डालती हैं।
3. आपातकाल के बाद 1977 में बनी जनता पार्टी सरकार के बाद की भारतीय जनता पार्टी के लोग शामिल थे। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ प्रेरित पूर्व की जनसंघ का जनता पार्टी में विलय हो गया था जो बाद में भारतीय जनता पार्टी के रूप में सामने आई।
4. यह शिकायत आम रही है कि दशकों से शिक्षकों के प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, ये एक ढर्रे पर चल रहे हैं। और लगभग अप्रासंगिक हो गए हैं।
5. 'दूध का दाम' प्रेमचंद, आरोह- कक्षा 11 के लिए हिन्दी (आधार) की पाठ्यपुस्तक।
6. हो सकता है यही आमुख अन्य पाठ्यपुस्तकों में भी प्रयुक्त किया गया हो लेकिन हम यहां भाषा-शिक्षण की पाठ्यपुस्तकों की ही चर्चा कर रहे हैं।
7. वितान भाग 1 कक्षा 11 के लिए हिन्दी (आधार) की पूरक पाठ्यपुस्तक।
8. देखें, कृष्ण कुमार 'सोशल करेक्टर ऑफ लर्निंग' और राजस्थान और दिल्ली राज्य में हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों पर ऋतुबाला और वीरेन्द्र रावत के लेख, शिक्षा विमर्श- जून-जुलाई 03, फरवरी-मार्च 03, दिसम्बर-जनवरी 03.
9. Sanskritization देखें एम. एन. निवासन, वर्चस्वशाली वर्ग की जीवन शैलियों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति, एक सामंती अभिलक्षण।
10. धूमिल - 'मोचीराम' और अवतारसिंह 'पाश' -सबसे खतरनाक है ... आरोह - कक्षा 11 के लिए हिन्दी (आधार) की पाठ्यपुस्तक।

समान्तर

49, हिम्मत नगर,  
टोंक रोड, जयपुर - 18